बृहदारण्यकोपनिषद् मे तत्त्व ज्ञान

डॉ विवेक पाण्डेय
सहायक आचार्य एवं विभागाध्यक्ष दर्शनशास्त्र
का.सु.साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय अयोध्या उत्तर प्रदेश

केवल परिमाण के आधार ही नहीं, अपितु तत्त्व ज्ञान के प्रतिपादन की गम्भीरता की दृष्टि से भी इस यजुर्वेदीय उपनिषद् का नाम बृहदारण्यकोपनिषद् पड़ा होगा। यह विपुलकाय तथा प्राचीनतम उपनिषदों में अन्यतम है जिसमें कुल छः अध्याय है। उद्भट दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता महर्षि याज्ञवल्क्य के गूढ़तम किन्तु तत्त्वज्ञान के महत्तम उपदेशों से समन्वित इस उपनिषद् में आध्यात्मिक सिद्धान्तों का बड़ा ही रोचक वर्णन उपलब्ध होता है। इसके प्रथम अध्याय में मृत्यु के द्वारा समस्त जागतिक पदार्थों के निगरण, प्राण की श्रेष्ठता विषयक आख्यायिका तथा सृष्टि विषयक सिद्धान्तों का विशद वर्णन है। प्रथम अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में प्रलय के अनन्तर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुये कहा गया है–

''नैवेह कि०चनाग्र आसीत्, मृत्युनैवेदमावृतमासीत्।''

बृहदारण्यक० 1/2

अर्थात् सृष्टि से पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। यह सब कुछ केवल मृत्यु से आवृत था। अशनाया (बुभुक्षा) ही मृत्यु है। उस बुभुक्षा रूपी मृत्यु ने मन से वेद त्रयी की भावना की। उससे जो रेतस् (वीर्य) हुआ वही संवत्सर है। उस उत्पन्न कुमार के प्रति मुख फैला कर 'भाण्' ऐसा शब्द किया जो वाक् है। उसने उस मन तथा वाणी के द्वारा इस सब (ऋग्वेदादि) की रचना की। यज्ञ प्रजा और पशु भी उसी से उत्पन्न हुये।

उसने यह कामना की कि मैं पुनः महान् यज्ञ से यजन करूँ। वह श्रान्त हो गया। फिर तप किया। थके तथा तप्त उस प्रजापति से यश और वीर्य उत्पन्न हुये। उसके 'अंश्वत्' अर्थात् फूले हुये शरीर से अश्व उत्पन्न हो गया। अश्व मेध्य है। प्राण देवता ने वाक् को मृत्यु के पार पहुँचाया जो अग्नि हो गया। अग्नि ने प्राण को मृत्यु के पार पहुँचाया जो वायु बन गया। फिर चक्षु का अतिवहन किया गया जो आदित्य हो गया। इसी प्रकार श्रोत्र दिक् हो गया। पुनः मन का अतिवहन किया गया जो चन्द्रमा बन गया। ये सभी देव मृत्यु से पार हो गये। फिर उस प्राणरूप प्रजापति ने अन्न का (अपने लिये) आगान किया। प्राण ही अन्न को खाता है। अन्न से ही प्राण प्रतिष्ठित होते हैं। यह प्राण ही शरीर के अंगों का रस है। जिस अंग से प्राण उत्क्रमण कर जाता है, फिर वह अंग सूख जाता है।[1]

प्राण ही वृहस्पति है। वाक् बृहती है तथा प्राण उसका पति। अतः वह वृहस्पति है।[2] वही ब्रहणस्पति भी है क्योंकि वाक् ही ब्रह्म है। यह वाक् सा है तथा प्राण अम्। अतः प्राण ही साम भी है। यह प्राण मक्खी के समान, मच्छर के समान, हाथी के समान तथा इस त्रिलोकी के समान भी है, अतः समानता के कारण यह साम है।[3] प्राण ही उद्गीथ है। यहाँ तक प्राण विज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। जब प्रस्तोता (साम गायक) प्रस्ताव करता है उस समय उसे इन मंत्रों का जप करना चाहिये–''असतो मा सद्गमय तससो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय।''[4] मृत्यु ही असत् है। अमृत सत् है। मृत्यु ही तमस् भी है, अमृत ज्योति है।

प्रजापति 'अहम्' नाम वाला है। पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने अपने से भिन्न किसी और को नहीं देखा, अतः 'अहमस्मि' (मैं हूँ)

कहा। इसीलिए वह अहम् है।[5] वह अकेला ही था। अतः उसने अपने शरीर को ही दो भागों में विभक्त कर डाला जिससे स्त्री और पुरुष उत्पन्न हो गये जिनसे समस्त मनुष्यों की उत्पत्ति हुयी। इसी प्रकार उन्हीं से अन्य प्राणियों की भी उत्पत्ति हो गयी।

यह जगत् उस समय (उत्पत्ति से पूर्व) अव्याकृत था। पश्चात् यह नाम रूपात्मक जगत् व्यक्त हुआ। वह व्याकर्त्ता (आत्मा) इस शरीर में नखाग्र पर्यन्त प्रवेश किये हुये है। जैसे अग्नि काष्टादि में छिपा हुआ रहता है, परन्तु उसे लोग देख नहीं पाते। प्राणन क्रिया करने के कारण वह प्राण, बोलने के कारण वाक्, देखने के कारण चक्षु, सुनने के कारण श्रोत्र तथा मनन करने के कारण मनस् है। ये इस आत्मा के कर्मानुसारी नाम हैं। इनमें से किसी एक की उपासना करने वाला असम्पूर्ण है। अतः 'आत्मा' की उपासना करनी चाहिए। इसके ज्ञान से ही सबका ज्ञान हो जाता है।[6]

पहले यह ब्रह्म ही था। उसने अपने ही को जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। इसीलिए वह ब्रह्म सर्व हो गया। देवों में से जिस–जिस ने उसे जाना वही तद्रूप हो गया। उस ब्रह्म को आज भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वही सर्व हो जाता है। वह ब्रह्म देवताओं की भी आत्मा है। उस ब्रह्म ने (जो अकेले था) ही क्षत्रियादि वर्णों को भी उत्पन्न किया।[7] उसी ने श्रेयोरूप धर्म की अतिसृष्टि की। अतः धर्म से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। धर्म के द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान् को जीतने की इच्छा करने लगता है। धर्म निश्चित रूप से सत्य है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय, प्रथम ब्राह्मण की 20वीं श्रुति में आत्मा से जगत् की उत्पत्ति के विषय में 'उर्णनाभि' (मकड़ी) तथा अग्नि विस्फुल्लिंग का दृष्टान्त किया गया है कि–

जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ा) तन्तुओं के सहारे ऊपर जाता है, जिस प्रकार अग्नि से असंख्य चिनगारियाँ उड़ती हैं उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, देवगण एवं समस्त भूत नाना प्रकार से उत्पन्न होते हैं। यह आत्मा सत्यों का भी सत्य है।

इस ब्रह्म के दो रूप है– मूर्त और अमूर्त, स्थित और यत् (चर) तथा सत् एवं त्यत्–

''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च, सच्च तयच्च।''

बृहदारण्यक० (2/3/1)

जो वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न है वह मूर्त है। वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं, अमृत हैं, यत् हैं तथा त्यत् हैं।

जो प्राण हैं तथा जो देहान्तर्गत आकाश है, उससे भिन्न सभी मूर्त, मर्त्य, स्थित हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण से याज्ञवल्क्य –मैत्रेयी संवाद का प्रारम्भ होता है। जिसमें आत्मा की ही सत्यता एवं महत्ता का प्रतिपादन किया गया।

याज्ञवल्क्य विस्तार पूर्वक उपदेश करते हैं कि संसार में पति के लिए पति, पत्नी के लिए पत्नी, पुत्र के लिए पुत्र, धन के लिये धन, ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय के लिये क्षत्रिय, देवताओं के लिये देवता, प्राणियों के लिये प्राणी, अधिक क्या कहें, किसी के लिये कोई प्रिय नहीं होता बल्कि अपने (आत्मा के) लिये उपर्युक्त सभी प्रिय होते हैं। इसलिए यह आत्मा ही बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा श्रवणीय, मननीय, ध्येय और इनके उपरान्त फल में रूप में दर्शन करने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्मदर्शन से ही अन्य समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। इसी से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। संसार में जो कुछ भी है, आत्मा उन सब से अभिन्न है। जैसे जल में डाला हुआ नमक का डला उसी में लीन हो जाता है। उसे जल से पृथक नहीं किया जा सकता उसी प्रकार यह महद्भूत अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है जो कि भूतों से प्रकट होकर उन्ही के साथ अन्त में विनाश को भी प्राप्त हो जाता है। देहेन्द्रिय भाव से युक्त होने पर इसकी कोई विशिष्ट संज्ञा नहीं होती।

द्वैत तो केवल व्यवहार में है। परमार्थ तो व्यवहारातीत है। जहाँ द्वैत होता है वहीं पर कोई किसी को सूँघता है, देखता है, सुनता है, किन्तु, जहाँ साधक के लिये सब कुछ परमात्ममय ही हो गया वहाँ कौन किसे सूँघें, देखे अथवा सोचे विचारे। वहाँ तो विज्ञाता और विज्ञेय दोनों एक ही हो गये।[8] जो यह आत्मा है वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है– ''योयमात्मेदंमृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्।। (बृहदा0 2/5/1)

यह आत्मा समस्त भूतों का मधु है तथा समस्त भूत इसके मधु हैं। यह आत्मा ही समस्त भूतों का अधिपति एवं राजा है। जिस प्रकार रथ की नाभि और नेमि में समस्त अरे समर्पित हैं उसी प्रकार इस आत्मा में समस्त भूत, देव, लोक, प्राण ये सब कुछ समर्पित रहते हैं।[9]

बृहदारण्यक० 2/5/16 से प्रारम्भ मधु विद्या जिसका दध्यङ्आथर्वण ने अश्विनी कुमारों को उपदेश किया है वह भी ब्रह्मविद्या ही है।

तृतीय अध्याय में आत्मा की अनिर्वचनीयता का वर्णन किया गया है। जनक की सभा में चाक्रायण उषस्त द्वारा प्रश्न किये जाने पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मा सर्वान्तर है। कोई भी व्यक्ति दृष्टि के द्रष्टा को देख नहीं सकता। श्रुति के श्रोता को भी देख या सुन नहीं सकता। मति के मन्ता का मनन भी नहीं किया जा सकता। विज्ञाति के विज्ञाता को जाना नहीं जा सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि यह द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता रूप आत्मा सर्वान्तर है। इसी प्रकार यह आत्मा जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशायें, चन्द्रमा, आकाश, तमस्, तेजस् इन सब के भीतर रहता तो है परन्तु ये उसे जान नहीं पाते।

आत्मा समस्त भूतों (प्राणियों), उनके प्राणों, वाक्, चक्षुष्, श्रोत्र, मनस्, त्वक्, विज्ञान, रेतस् के भीतर रहते हुये भी उनके द्वारा जाना नहीं जाता। वह अदृष्ट द्रष्टा, अश्रुत श्रोता, अमत मन्ता, अविज्ञात विज्ञाता है।

गार्गी के यह प्रश्न करने पर कि ब्रह्म आकाश में ओत–प्रोत हैं, किन्तु, आकाश किसमें ओत–प्रोत है, याज्ञवक्ल्य कहते हैं– हे गार्गी! उस तत्त्व को ज्ञानी जन अक्षर कहते हैं। यह न मोटा है न पतला, न छोटा है न बड़ा, न लाल है, न द्रव, न छाया है, न तमस् न वायु है, न आकाश, न रस, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मनस् है, न तेजस् है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, न ही उसमें अन्तर है, न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता, उसे भी कोई नहीं खाता। इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य चन्द्रमा स्थित रहते हैं, द्युलोग और पृथिवी लोक स्थित रहते हैं, निमेष, मुहूर्त्त, दिन–रात अर्ध मास, मास, ऋतु और संवत्सर स्थित रहते हैं।

बृहदारण्कोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ जनक–याज्ञवल्क्य के संवाद से प्रारम्भ होता है। जनक याज्ञवक्ल्य से अनेक प्रश्न करते हुये तथा क्रमशः उनका उत्तर पाते हुये अपने आसन विशेष (कूर्च) से उठकर याज्ञवक्ल्य के समीप जाकर विनय पूर्वक उपदेश करने की प्रार्थना करते हैं। याज्ञवक्ल्य कहते हैं– हे जनक ! तुम तो स्वयं प्राणादि ब्रह्म की उपासना करते हुये समाहितचित्त, अधीतवेद और उक्तोपनिषत्क (जिसे आचार्य से उपनिषद् विद्या का ज्ञान प्राप्त हो चुका हो) हो गये हो। फिर भी क्या बता सकते हो कि इस शरीर से छूटकर आत्मा कहाँ जायेगी ? जनक अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं। इस पर याज्ञवक्ल्य अपने प्रश्न का उत्तर देने के लिये स्वयं उद्यत हो जाते हैं। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान कराते हुये याज्ञवक्ल्य कहते हैं– 'नेति नेति' रूप से वर्णन किया हुआ यह आत्मा अगृह्य है, अशीर्य है, असंग है, अबद्ध है।[10] यह जो प्राणों में बुद्धिवृत्तियों के भीतर रहने वाला विज्ञानमय ज्योतिः स्वरूप पुरुष है वह समान रूप से इस लोक और परलोक दोनों में संचरण करता है। वह बुद्धिवृत्ति के अनुसार मानो चिन्तन करता है और प्राणवृत्ति के अनुसार मानो चेष्टा करता है और शरीर तथा इन्द्रिय रूप मृत्यु के रूपों का अतिक्रमण करता है।[11] वह यह

पुरुष जन्म लेते समय शरीर को आत्मभाव से प्राप्त होता हुआ देह और इन्द्रिय से संश्लिष्ट हो जाता है तथा मरते समय पापों का त्याग कर देता है। इस पुरुष के दो ही स्थान हैं– यह लोक तथा परलोक। तीसरा स्वप्नस्थान सन्ध्यस्थान है। जहाँ से वह उपर्युक्त दोनों लोकों को देखता है। वह जैसे साधन से सम्पन्न होता है उसी साधन के अनुरूप पाप (दुःख) अथवा पुण्य (आन्नद) दोनों ही को देखता है। इस स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योतिः स्वरूप होता है।[12] आत्मा स्वप्न के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट कर स्वयं न सोता हुआ, सोये हुये समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है। इस निकृष्ट शरीर की प्राण से रक्षा करता हुआ वह अमृत धर्मा शरीर से बाहर विचरता है। वह अकेला ही विचरने वाला हिरण्मय अमृत पुरुष जहाँ वासना होती है वहाँ चला जाता है। दूसरे लोग उसके आराम को ही देखते हैं, उसे कोई नहीं देखता। वैद्यों का कहना है कि उस सोये हुये आत्मा को सहसा जगाना नहीं चाहिये। वह आत्मा इस सुषुप्ति में रमण और विहार कर पुण्य और पाप को केवल देखकर जैसे और जहाँ से आया था, वैसे और वहाँ (स्वप्नावस्था) को पुनः लौट जाता है। वहाँ वह जो कुछ भी देखता है उससे असम्बद्ध रहता है, क्योंकि वह असंग है।

जिस प्रकार कोई बड़ा भारी मत्स्य नदी के पूर्व और अपर दोनों तीरों पर क्रमशः संचार करता है, उसी प्रकार यह पुरुष स्वप्नास्थान एवं जागरित स्थान दोनों ही में क्रमशः स०चार करता है–

''तद् यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तानुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च।''

– बृहदारण्यक (4/3/18)

सुषुप्तावस्था में पुरुष पुण्य–पाप से असम्बद्ध होकर हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर जाता है।[13] सुषुप्तावस्था में वह जो नहीं देखता, वह देखता हुआ ही नहीं देखता। द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु होती ही नहीं है जिसे वह देखे। जैसे जल में, उसी प्रकार सुषुप्ति में एक अद्वैत द्रष्टा होता है। यही ब्रह्म लोक है। यही इस पुरुष की परमगति है, यही उसकी परम सम्पत्ति है, यही उसका परम लोक है तथा यही इसका परमानन्द है। इस आनन्द की मात्रा के आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं।[14]

पाप एवं कामना रहित साधक के सार्वभौम आनन्द का वर्णन

जो मानव मात्र में सब अंगों से पूर्ण समृद्ध, औरों का अधिपति तथा समस्त मानवीय भोग्य पदार्थों से सर्वाधिक सम्पन्न होता है वह मनुष्य का परम आनन्द होता है। ऐसे एक मानवीय परमानन्द का सौ गुना पितृगण का एक आनन्द होता है। पितृगण के एक आनन्द का सौ गुना गन्धर्व लोक का एक आनन्द होता है। गन्धर्वानन्द का सौ गुना कर्म देवों का एक आनन्द तथा उसका सौ गुना आजान देवों (जन्म सिद्ध) का एक आनन्द होता है, किन्तु आजानज देवों का आनन्द सहज रूप से निष्पाप, निष्काम तथा श्रोत्रिय साधक को भी उपलब्ध होता है। आजान देवों के आनन्द का सौ गुना प्रजापति लोक के एक आनन्द के बराबर होता है। निष्पाप, निष्काम, श्रोत्रिय को भी सहजतया प्राप्त हैं। प्रजापति लोक के आनन्द का सौ गुना ब्रह्मलोक के एक आनन्द के बराबर है। यही परम आनन्द है। निष्पाप, निष्काम, श्रोत्रिय साधक को यह भी सहज रूप से प्राप्त होता है–

''स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः... .....अथ एष एव परम आनन्दः०।

–बृहदारण्यक (4/3/33)

तैत्तिरीयापनिषद् में भी ब्रह्मानन्द वल्ली में ब्रह्मानन्द की मीमांसा लगभग इन्हीं शब्दों में हुयी है।[15]

आत्मा का देहान्तर गमन

जिस प्रकार जोंक एक तृण के अन्त में पहुँचकर दूसरे तृण रूप आश्रय को पकड़ कर अपने को सिकोड़ लेती है अथवा जैसे सुनार सुवर्ण का भाग लेकर दूसरे नये–नये एवं कल्याणतर रूपों

की रचना करता है उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को नष्ट कर (अचेतावस्था को प्राप्त कराके) दूसरे पितर, गन्धर्व देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य भूतों के नवीन एवं कल्याणतर रूपों की रचना करता है।[16]

ऐसा यह आत्मा ब्रह्म है। जो कुछ इदंमय (प्रत्यक्ष) तथा अदोमय (परोक्ष) है, वह यही है। वह जैसा शुभाशुभ कर्म करने वाला होता है, देहान्तर प्राप्ति के साथ वैसा ही हो जाता है। इसका मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है उसी फल को यह साभिलाष होकर कर्म के सहित प्राप्त करता है। परन्तु जो अकाम, निष्काम, और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, बल्कि वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है। जिस समय (साधक के) हृदय में आश्रित सम्पूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता है तो फिर यह मरणधर्मा भी अमृत हो जाता है और यहीं (इस शरीर में ही) उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है–

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।।'[17]

बृहदारण्यक० (4/4/7)

ऐसे (साधक) पुरुष को जीवन्मुक्त कहा जाता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता के विषय में ही उपदेश साहस्त्री का निम्नलिखित मन्त्र वर्णन करता है–

'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।।'

–उपदेश साहस्त्री, 10/13

अर्थात् जागरण काल में द्वैत को देखते हुये भी जो अद्वैत का निश्चय हो जाने के कारण सोये हुये पुरुष के समान (वस्तुतः) नहीं देखता और कर्म करते हुये भी जो निष्क्रिय रहता है, वही आत्मवेत्ता है, दूसरा नहीं, ऐसा वेदान्त विद्या का निश्चय है।

उसी विषय में बृहदारण्यक का कथन है– 'अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः।।' *(बृह0 4/4/8)*

अर्थात् यह ज्ञान मार्ग सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन है। वह मुझे स्पर्श किये हुये है और मैंने ही उसका फलसाधक ज्ञान प्राप्त किया है। धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोक में जीते जी ही मुक्त होकर शरीर त्याग के बाद उसी मार्ग से स्वर्ग लोक अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

जो अविद्या की उपासना (कर्म की उपासना) करते हैं वे अज्ञान रूपी अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो विद्या (कर्मकाण्ड प्रधान त्रयी विद्या) की उपासना करते हैं, वे उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।[18] साधक यदि आत्मतत्त्व को जान ले तो फिर किस इच्छा से शरीर के पीछे संतप्त होवे?

इस अनेक अनर्थों से परिपूर्ण तथा विवेक–विज्ञान के विरोधी शरीर में प्रविष्ट हुआ आत्मा जिस ब्रह्म जिज्ञासु को ज्ञात हो गया, वही धन्य (विश्वकृत्) है। वही सबका कर्त्ता है, उसी का लोक है और स्वयं वही लोक भी है।[19]

संदर्भ सूची

1. बृहदारण्यकोपनिषद् (1/3/20)
2. बृहदारण्यकोपनिषद् (1/3/19)
3. बृहदारण्यकोपनिषद् (1/3/22)
4. बृहदारण्यकोपनिषद् (1/3/28)
5. ''आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषंविधः।०''(बृहदा० 1/4/1)
6. बृहदारण्यकोपनिषद् (1/4/7)
7. ''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्ताऽपि मा विद्धि अकर्त्तारमव्ययम्।।'' (गीता–4/13)
8. बृहदारण्यकोपनिषद् (2/4/14)।
9. बृहदारण्यकोपनिषद् (2/2/15)।
10. बृहदारण्यकोपनिषद् (4/2/4)– 'स एषनेतिनेति .....न रिष्यति।'
11. बृहदारण्यकोपनिषद् (4/3/7)
12. बृहदारण्यकोपनिषद् (4/3/9)
13. 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वा०छोकान् हृदयस्य भवति'।। *(बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/22)*
14. बृहदारण्यकोपनिषद् (4/3/32)।

15. द्रष्टव्यः ''युवा स्यात्साधु युवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः.....स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।''
(तैत्तिरीयोपनिषद्– 2/8)
16. तुलना कीजियें : ''वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा–
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।'' (गीता, 2/22)
17. तुलना कीजिये : 'भिद्यते
हृदयग्रन्थिश्चिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिनदृष्टे परावरे।।'
(मुण्डकोपनिषद्, 2/2/8)
18. द्रष्टव्य : 'अन्धं तमः प्रविशन्ति०'
(बृहदारण्यक०, 4/4/10)
19. द्रष्टव्य : 'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध०'
(बृहदारण्यक०, 4/4/13)